~~6409~~

तित्थयर

जैन भवन

चतुर्दश वर्ष : सितम्बर १९९० : पंचम अंक

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र
वर्ष १४ : अंक ५
सितम्बर १६६०

□

संपादन
गणेश ललवानी
राजकुमारी बेगानी

□

आजीवन : एक सौ एक
वार्षिक शुल्क : दस रुपये
प्रस्तुत अंक : एक रुपया

□

प्रकाशक
जैन भवन
पी-२५ कलाकार स्ट्रीट
कलकत्ता-७००००७

□

मुद्रक
सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स
२०५ रवीन्द्र सरणी
कलकत्ता-७

सूची

जैनों का सामाजिक इतिहास १३१
पालि भाषा के बौद्ध ग्रन्थों में
जैन धर्म १३६
त्रिषष्टि शलाका पुरुष
चरित्र १५०
संकलन १५८
जैन पत्र-पत्रिकाएँ : कहाँ/क्या १५६

भगवान ऋषभनाथ, सुरोहर, राजशाही

जैनों का सामाजिक इतिहास

डा० विलास ए० संगवे

अध्ययन का एक उपेक्षित क्षेत्र

जैन का सामाजिक इतिहास महत्वपूर्ण होते हुए भी अब तक अध्ययन की दृष्टि से लगभग पूर्णतः उपेक्षित रहा है। अभी तक जैनों का इतिहास राजनीतिक या सांस्कृतिक दृष्टि से ही लिखा गया है। जैनों के राजनीतिक इतिहास के अन्तर्गत (i) राजाओं, मन्त्रियों एवं सैन्याधिकारियों की प्रशासकीय एवं युद्धगत निपुणतायें, (ii) जैनों द्वारा देश के भिन्न-भिन्न भागों में राज्याश्रय के विवरण तथा (iii) राष्ट्र एवं राज्यों के राजनीतिक स्थायित्व या स्वाधीनता संग्राम में जैन व्यापारियों या सामान्य जैन समाज द्वारा किये गये विशिष्ट योगदान का विवरण दिया जाता है। जैनों का सांस्कृतिक इतिहास अध्ययन की दृष्टि से पर्याप्त विकसित है। इसके अन्तर्गत भाषा, साहित्य, स्थापत्य पुरातत्व, संगीत एवं चित्रकला के क्षेत्रों में जैनों द्वारा किये गये महत्वपूर्ण योगदान का विवरण और मूल्यांकन किया जाता है। दुर्भाग्य से, जैन विद्या-विशारदों ने जैनों के सामाजिक इतिहास पर समुचित ध्यान नहीं दिया है। जैनों ने प्राचीन काल से लेकर आज तक जैनधर्म की प्रतिष्ठा को न केवल सुरक्षित ही रखा है, अपितु उसे एक जीवन्त धर्म भी बनाये रखा है। इसका करण यह रहा है कि उन्होंने जैनधर्म द्वारा प्रतिष्ठित चारित्र एवं व्यवहार के नियमों का श्रद्धापूर्वक अविरत रूप से पालन एवं प्रदर्शन किया है, इस दृष्टि से उनके सामाजिक जीवन के विविध पक्षों का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वस्तुतः जैनों का इतिहास तब तक पूर्ण नहीं माना जा सकता जब तक उनकी राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्रियाशीलता एवं सफलताओं के साथ उस समाज के सामाजिक पक्ष का विवरण भी उसमें समाहित न किया जाये।

जैन : एक महत्वपूर्ण अल्पसंख्यक समाज

भारत के ईसाई, बौद्ध, सिख, मुस्लिम तथा अन्य अल्पसंख्यक समुदायों की तुलना में जैन समाज अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण स्थान पर जाता है। १९८१ में प्रकाशित भारतीय जनगणना के अनुसार, भारत में विद्यमान छह प्रमुख धर्मावलंबियों में इसके अनुयायियों की संख्या सबसे कम है। भारत की समग्र जनसंख्या में इसकी आबादी का प्रतिशत लगभग ०·६ है अर्थात् प्रत्येक दस

हजार भारतीयों में ८२०० हिन्दू, ११०० मुस्लिम, २५० ईसाई, १६० सिख, ७० बोद्ध हैं जब कि जैन केवल ६० ही हैं।

इनकी जनसंख्या अल्प अवश्य है, पर ये भारत के सभी प्रान्तों में फैले हुए हैं। सिखों के समान ये किसी एक क्षेत्र में सघनता से नहीं पाये जाते। सिखों के समान न तो उनकी कोई विशेष वेशभूषा है और न ही उनकी अपनी कोई विशेष भाषा ही है। इस तरह जैन, वास्तव में, भारतीय हैं और इसीलिये, अल्पसंख्यक होते हुए भी, उन्हें सर्वत्र आदर एवं प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता है।

यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि जैन समाज गाँवों की तुलना में शहरों में ही अधिक बसता है। जनगणना के आँकड़ों से पता चलता है कि नगरों व ग्रामीण जैनों की जनसंख्या का अनुपात लगभग ६० : ४० है। इसलिये अधिकांश जैन नगरीकृत हैं। लेकिन वे फारसी या यहूदियों के समान उच्चतः नगरीकृत नहीं हैं।

यह भी स्मरणीय है कि जैन समुदाय भारत का एक प्राचीनतम समुदाय है। जैन धर्म का अस्तित्व भारतीय इतिहास के प्रारम्भ से ही माना जा सकता है। उनकी यह प्राचीनता भी उनकी विशेषता है। यह तथ्य भारत के अन्य धार्मिक अल्पसंख्यकों पर लागू नहीं होता। यही नहीं, वे शत प्रतिशत भारतीय चरित्र के हैं। वे इस देश के सहज निवासी हैं और उनकी भाषा, धर्मस्थल, मिथक एवं महापुरुष—सब इसी देश के हैं। जैनों की, भारत से बाहर, किसी अन्य धर्म या संस्था से सम्बन्द्धता नहीं है।

संख्या में अल्प होते हुए भी जैनों का सदैव पृथक् अस्तित्व रहा है और अपनी विशेषताओं के कारण उन्होंने इसे बनाये भी रखा है। एक स्वतन्त्र धर्म होने के नाते, इसके अनुयायियों का पवित्र विशाल साहित्य है, दर्शन है, और अहिंसा के मूलभूत सिद्धान्त पर आधारित आचरण संहिता है। वस्तुतः जैनों की आचार-विचार सरणी अहिंसा की धारणा पर ही आधारित है। भारत के अनेक धर्म अहिंसा के सिद्धान्त को महत्व देते हैं, पर जैन उसके आधार पर निर्मित नियमों के परिपालन को सर्वाधिक महत्व देते हैं।

प्राचीनता के अतिरिक्त जैनों की एक विशेषता और है—यह सदा से अविच्छिन्न रहा है। विश्व में बहुत कम समुदाय ऐसे होंगे जो इतने दीर्घकाल तक अविच्छिन्न बने रहें हों। सचमुच ही, यह आश्चर्य की बात है कि भूतकाल के अनेक धर्मों और पन्थों का नामोनिशां नहीं बचा, जैन कैसे अपनी

अविच्छिन्नता बनाये हुए हैं। उनका यह सुदीर्घ अस्तित्व उनकी विशेषता ही मानी जानी चाहिये।

जैनों की अतिजीविता

जैनों की सुदीर्घकालीन अविच्छिन्नता उनकी एक प्रशंसनीय सफलता है। जैन और बौद्ध भारत में श्रमण संस्कृति के प्रमुख स्तम्भ रहे हैं। फिर भी, इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि बौद्ध धर्म भारत में लुप्त हो गया और अन्य देशों में फैला, पर जैन धर्म अभी भी भारत का एक जीवन्त धर्म है और संभवतः श्रीलंका को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं फैल पाया। जैनों की इस अविच्छिन्न अतिजीविता के अनेक कारण हैं।

(अ) सामाजिक संगठन

जैनों की अतिजीविता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण उनकी उत्तम सामाजिक व्यवस्था रही है। इस संगठन का केन्द्र बिन्दु जनसाधारण रहा है। जैन समुदाय परम्परागत रूप से चार अंग में विभाजित हैं—साधु या पुरुष-तपस्वी, साध्वी या स्त्री-तपस्वी, श्रावक या पुरुषजन एवं श्राविका या स्त्री-जन। इन सभी अंगों में परस्पर प्रगाढ़ सम्बन्ध है। जैनों में साधु और सामान्य जैन के लिये एक ही प्रकार के व्रत या धर्म-नियम माने गये हैं। यह अवश्य है कि साधु को गृहस्थ की तुलना से उनका पालन अधिक कठोरता एवं ईमानदारी से करना पड़ता है। गृहस्थ का यह कर्त्तव्य है कि वह साधुओं के आहार-विहार की पूरी तरह व्यवस्था करे। इस दृष्टि से साधु-संघ पूर्णतः गृहस्थ समाज पर आश्रित है। इन साधुओं ने प्रारम्भ से ही जैनों के धार्मिक जीवन को नियन्त्रित किया है और इसी प्रकार गृहस्थों ने भी साधु के चरित्र को उत्तम बनाये रखने में अपना योगदान दिया है। इसीलिये यह आवश्यक है कि साधु भौतिक समस्याओं से पूर्णतः अलग रहे और वह अपने तपस्वी जीवन के अन्य स्तर को कठोरता पूर्वक बनाये रखे। यदि साधु इस स्तर के लिये कमजोर प्रमाणित होता है, तो उसे इस पद से विमुक्त किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में जर्मन विद्वान् एच. जेकोबी ने सही कहा है, "यह स्पष्ट है कि समुदाय का सामान्य जन जैन संगठन में बौद्ध संगठन के समान बाहरी, हितैषी या संरक्षक के रूप में नहीं माना जाता था। उसकी स्थिति धार्मिक कर्त्तव्य और अधिकारों से पूर्णतः परिभाषित रही है। सामान्य जन एवं साधुओं के बीच का सम्बन्ध अत्यन्त प्रभावी था। यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि इस सुदृढ़ सम्पर्क के कारण ही जैन साधुओं एवं गृहस्थों के

आचार में समानता आई जिसमें केवल गुणात्मकता का ही अंतर रहा। इसीसे जैन संघ के भीतर कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं हो पाये और यह बाहरी प्रभावों से दो हजार साल तक बचा रह सका। इसके विपर्यास में, बौद्धों में गृहस्थों के प्रति इतनी कठोरता नहीं थी और उन्होंने असाधारण विकास पथ का अनुसरण किया। इससे वह अपनी जन्मभूमि से ही लुप्त हो गया।"

(ब) अपरिवर्तनीयता का संरक्षण

जैनों की अतिजीविता का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण उनकी अपरिवर्त्तनीयता के संरक्षण की वृत्ति भी रही है। इस कारण ही वे अनेक सदियों से अपनी मूलभूत संस्थाओं और सिद्धान्तों को दृढ़ता से पकड़े हुए हैं। जैनों के आधारभूत महत्वपूर्ण सिद्धान्त आज भी लगभग ज्यों के त्यों बने हुए हैं। यह संभव है कि गृहस्थ और साधुओं की जीवन पद्धति एवं व्यवहार से सम्बन्धित कुछ कम महत्वपूर्ण नियम आज उपेक्षणीय या अनुपयोगी हो गये हों, फिर भी इस बात में शंका नहीं है कि आज के जैन समुदाय का धार्मिक जीवन तत्वतः वैसा ही है जैसा आज से दो हजार वर्ष पूर्व था। अपने सिद्धान्तों के प्रति कठोर लगाव की यह प्रवृत्ति जैन स्थापत्यकला और मूर्तिकला में भी प्रतिबिम्बित होती है। जैन मूर्तियों के निर्माण की शैली वस्तुत आज भी पूर्ववत् बनी हुई है। इसलिये परिवर्तन के प्रति निश्चल अस्वीकृति की वृत्ति जैनों ने लिये सुदृढ सुरक्षा कवच रही है।

(स) राज्याश्रय

भारत के विभिन्न भागों में प्राचीन और मध्यकाल में अनेक राजाओं ने जैनधर्म को संरक्षण प्रदान किया। इस संरक्षण ने निश्चितरूप से जैनों की अतिजीविता में सहायता की है। गुजरात और कर्नाटक तो प्राचीन काल से जैनों के प्रभावशील क्षेत्र रहे हैं क्योंकि इन दोनों क्षेत्रों में अनेक शासक, मंत्री एवं सेनाध्यक्ष स्वयं जैन रहे हैं। जैन शासकों के अतिरिक्त, अनेक जैनेतर शासकों ने भी जैन धर्म के प्रति उदार दृष्टिकोण रखा। राजपूताना के इतिहास से पता चलता है कि अनेक राजाओं ने जैन सिद्धान्तों से प्रभावित होकर प्राणि-बध पर प्रतिबंध लगा दिया। अनेक राजाओं ने बरसात के चार महीनों के लिये तेलघानी और कुम्हार के चक्के चलाने पर प्रतिबंध लगा दिया। दक्षिण में प्राप्त अनेक शिलालेखों से पता चलता है कि अनेक जैनेतर राजाओं ने जैनों के प्रति धार्मिक उदारता दिखाई और धर्म-पालन के लिये सुविधायें दी। इन शिलालेखों में विजयनगर के राजा बुक्क राय प्रथम का

१३६८ ई० का शिलालेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जब विभिन्न क्षेत्रों के जैनों ने राजा से यह शिकायत की कि उन्हें वैष्णवों के अत्याचारों से सुरक्षा प्रदान की जाये, तब राजा ने सभी सम्प्रदायों के नेताओं को बुलाकर कहा कि मेरे लिये सभी सम्प्रदाय समान हैं। सभी को अपने धार्मिक व्यवहार पालन की स्वतन्त्रता है।

(द) साधु-संस्था की प्रवृत्तियां

अनेक प्रसिद्ध जैन सन्तों के विविध प्रकार के क्रियाकलापों ने भी जैनों की अतिजीविता में योगदान किया है। इन क्रियाकलापों ने सामान्य जन पर जैन संतों की विशेषताओं की छाप डाली। ये सन्त ही जैन धर्म के समग्र भारत में फैलने के लिये उत्तरदायी हैं। श्रीलंका के इतिहास से पता चलता है कि जैन धर्म वहाँ भी फैला। जहाँ तक दक्षिण भारत का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में पूरे दक्षिण भारत में जैन साधु-संघ फैले हुए थे। वे अपनी देशभाषा में निर्मित साहित्य के माध्यम से धीरे-धीरे जैन धर्म के नैतिक सिद्धान्तों का दृढ़तापूर्वक प्रचार करते रहे। जैन सन्तों की साहित्यिक एवं धर्मोपदेशक प्रवृत्तियों ने हिन्दू पुनरुत्थान के समय में भी दक्षिण में जैनों की स्थिति को सुदृढ़ बनाये रखा। कभी-कभी तो ये सन्त राजनीतिक घटनाओं में भी रुचि लेते थे और आवश्यकता के अनुसार जनता को मार्ग निर्देश करते थे। यह सुज्ञात है कि गंग और होयसल राजाओं को नये राज्य की स्थापना की प्रेरणा जैनाचार्यों ने ही दी थी। इन क्रियाकलापों के बावजूद भी जैनाचार्य अपने तपस्वी जीवन को भी उन्नत बनाये रखते थे। सामान्यतः जनता एवं शासक जैन साधुओं के प्रति आस्था एवं आदर भाव रखते थे। दिल्ली के मुस्लिम शासक भी उत्तर और दक्षिण के विद्वान् जैन साधु का आदर और सम्मान करते थे। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि ऐसे अनेक प्रभावकारी संतों की विशेषताओं एवं क्रियाकलापों ने जैन समुदाय की अतिजीविता में सहायता की हो।

(य) चार दानों की प्रवृत्ति

अल्प संख्यक समुदाय को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये अन्य लोगों की सदिच्छा पर निर्भर करना पड़ता है। यह शुभेच्छा तभी प्राप्त हो सकती है जब हम कुछ सर्वजनोपयोगी क्रियाकलाप करें। जैनों ने इस दिशा में काम किया और आज भी कर रहे हैं। उन्होंने शिक्षण संस्थायें खोलकर जनसाधारण को शिक्षित बनाने में योग दिया। सार्वजनिक औषधालय या चिकित्सालय

खोलकर लोगों का दुख-दर्द दूर किया। प्रारम्भ से ही जैनों ने आहार, निवास और विद्या के रूप में चार दानों का सिद्धान्त बनाया और उसका पालन किया। कुछ लोगों का कथन है कि जैन धर्म के प्रचार और प्रभाव में इस प्रवृत्ति का बड़ा हाथ हैं। इस हेतु जहाँ जैनों की पर्याप्त संख्या रही, वहाँ उन्होंने बाल-आश्रम, धर्मशाला, औषधालय और स्कूल खोले। जैनों के लिये यह प्रशंसा की बात है कि उन्होंने शिक्षा-प्रसार के क्षेत्र में बहुत काम किया है। दक्षिण देश में जैन साधु बच्चों को पढ़ाया करते थे। इस सन्दर्भ में डा० अल्तेकर ने सही लिखा है कि वर्णमाला के ज्ञान के पहले बच्चों को श्री गणेशाय नमः के माध्यम से गणेश को नमस्कार करना चाहिये यह सिखाया जाता है। हिन्दुओं के लिये यह उचित ही है, लेकिन दक्षिण में आज यह परम्परा है कि श्री गणेशाय नमः के पहले 'ॐ नमः सिद्ध' का जैन वाक्य कहा जाता है। इससे यह पता चलता है कि जैन साधुओं ने सामान्य शिक्षा पर अपना इतना प्रभाव डाला कि हिन्दुओं ने इसे, जैनधर्म के अवनमन काल के बाद भी, चालू रखा। आज भी जैनों में चार दान की प्रवृत्ति सारे भारतवर्ष में देखी जा सकती है। वस्तुतः किसी राष्ट्रीय एवं परोपकारी कार्य में सहायता के मामले में जैन कभी किसी से पीछे नहीं रहते।

(र) अन्य धर्मावलम्बियों से मधुर सम्बन्ध

जैनों की अतिजीविता का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि उन्होंने हिन्दुओं एवं अन्य जैनेतरों के साथ मधुर और घनिष्ठ सम्पर्क बनाये रखा। पहले यह सोचा जाता था कि जैन धर्म बुद्ध या हिन्दू धर्म की एक शाखा है। लेकिन अब यह सामान्यतः मान लिया गया है कि जैनधर्म एक स्वतन्त्र और विशिष्ट धर्म है और यह हिन्दुओं के वैदिक धर्म जितना ही पुराना है। जैन, बौद्ध एवं हिन्दू धर्म भारत के तीन प्रमुख धर्म हैं। इनके अनुयायी सदैव एक-दूसरे के साथ रहे हैं। इसलिए यह स्वाभाविक है कि उनका एक-दूसरे पर प्रभाव पड़े। इन तीनों ही धर्मों में इसलिये निम्न बातों के सम्बन्ध में लगभग समान विचार पाये जाते हैं :

(i) मुक्ति और पुनर्जन्म

(ii) पृथ्वी, स्वर्ग और नरक का वर्णन

(iii) धर्म गुरुओं या तीर्थंकरों का अवतार

भारत से बौद्धधर्म के विलोपन के पश्चात् जैन और हिन्दू परस्पर में और निकट आये। यही कारण है कि सामान्य सामाजिक जीवन में जैन और

हिन्दुओं में कोई अन्तर ही नहीं मालूम होता। इस तथ्य से यह नहीं समझना चाहिए कि जैन हिन्दुओं के अंग हैं या जैन धर्म हिन्दू धर्म की शाखा है। वास्तव में, यदि हम जैन धर्म हिन्दू धर्म की तुलना करें तो पता चलेगा कि इनमें अन्तर बहुत है। इनमें जो एकरूपता है वह सामान्य जीवन-पद्धति की विशेष बातों के सम्बन्ध में ही है। यदि अच्छी तरह देखा जावे, तो दोनों के विभिन्न उत्सवों के उद्देश्य भी भिन्न ही होते हैं।

यह स्पष्ट है कि जैन और हिन्दुओं के अनेक सामाजिक और धार्मिक व्यवहारों में मौलिक अन्तर है। ये अन्तर आज तक बने हुए हैं। इसके साथ ही, हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जैनों के अनेक सामाजिक और धार्मिक व्यवहारों में जैनेतर तत्वों का समाहरण भी होता रहा है। ऐसी बात नहीं है कि यह प्रक्रिया अन्धरूप में अपनाई गई हो। ऐसा प्रतीत होता है कि जैनों को जैनेतर तत्वों का समाहरण जटिल परिस्थितियों के साथ समा-योजन के लिये करना पड़ा था। यह उनको सुरक्षा या अतिजीवन के लिये स्वेच्छया स्वीकृति के रूप में माना गया। लेकिन ऐसा करते समय यह ध्यान रखा गया कि इस प्रक्रिया से धार्मिक व्यवहारों की शुद्धता पर विशेष प्रभाव न पड़े। सोमदेव के समान मध्य युग के दक्षिण देशीय जैनाचार्यों ने लौकिक परम्पराओं और व्यवहारों को अपनाने की तब तक स्वीकृति दी जब तक उनसे सम्यक्त्व की हानि और व्रतों में दूषण न हो पाए। लौकिक परंपराओं के पालन की स्वीकृति से जैनों के दो लाभ हुए। जैन और हिन्दुओं के सम्बन्ध सदैव मधुर रहे। संभवतः इसी कारण वे अनेक विषम एवं जटिल परिस्थितियों में भी सदियों से इन्हें सुरक्षित बनाये हुये हैं। वास्तव में जैनों ने सदैव ही न केवल हिन्दुओं से अपितु अन्य अल्पसंख्यकों से भी अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने के संकल्पबद्ध प्रयत्न किये। यही कारण है कि जब जैन शासक के रूप में रहे, उन्होंने कभी भी जैनेतर समुदायों को त्रास नहीं दिया। इसके विपरीत, जैनेतर शासकों द्वारा जैनों के सताये जाने के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

शोध के प्रमुख क्षेत्र

प्राचीन काल से लेकर अब तक जैनों का अविरत सातत्य भारत में उनके सामाजिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण पहलू है। इसलिये हमारे लिये न केवल यह आवश्यक है कि हम उनकी अतिजीविता के प्रमुख कारणों की छान बीन करें अपितु हमें उन कारणों पर भी ध्यान, अध्ययन और शोध करना होगा

जिनसे जैन भविष्य में भी अतिजीवित रह सकें। इस दृष्टि से हमें भारत के विभिन्न क्षेत्रों के जैन और बहुसंख्यक समुदाय के बीच वर्तमान सम्बन्धों की प्रकृति और आयामों पर शोध तो करनी ही होगी, यही नहीं, इसी आधार पर भविष्य के सम्बन्धों से सम्बन्धित नीति भी हमें निर्धारित करनी होगी। इसके अतिरिक्त दक्षिण राजस्थान, पश्चिमी मध्य प्रदेश, उत्तरी गुजरात, दक्षिणी महाराष्ट्र, उत्तरी कर्नाटक के समान जैन बहुल क्षेत्रों में जैनों के सामाजिक जीवन की विभिन्न अवस्था का अध्ययन करना होगा जिससे जैन जीवन पद्धति एवं उनकी समाजिक संस्थाओं का एकीकृत स्वरूप हमें ज्ञात हो सके। यही नहीं, बम्बई, कलकत्ता, अहमदाबाद, दिल्ली, इन्दौर, जयपुर, बंगलोर आदि बड़े-बड़े नगरों के जैनों का भी, उपर्युक्त आधारों पर वैज्ञानिक रीति से अध्ययन करना होगा। इसके साथ ही, उन कुटुम्बों के विशेष योगदानों का विश्लेषणात्मक अध्ययन भी करना होगा जिन्होंने जैन जीवन पद्धति को प्रभावित और समृद्ध किया है। इसी प्रकार हमें उन परिवारों एवं व्यक्तियों के योगदान का विश्लेषणात्मक अध्ययन करना होगा जिन्होंने भारत के विभिन्न क्षेत्रों में आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन को नया विस्तार दिया है। जैनों के द्वारा स्थापित और संचालित किया स्वास्थ्य एवं समाज कल्याण की संस्थाओं के भारतीय समाज के लिये योगदान की दृष्टि से भी यह अध्ययन करना सामान्य जैन के हित में होगा।

पालि-भाषा के बौद्ध ग्रन्थों में जैन धर्म

डॉ॰ गुलाबचन्द चौधरी

भगवान् बुद्ध ने अपने सारे उपदेश जिस जनभाषा में दिये थे उसका नाम मागधी था। मागधी में बुद्धवचनों या उक्तियों को परियाय या पलियाय कहा गया है। कालान्तर में इसी परियाय-पलियाय से पालि शब्द निकला जिसका अर्थ भाषा के साथ लगाने पर होता है बुद्ध बचनों की भाषा। बौद्ध ग्रन्थ संस्कृत में भी लिखे गये हैं पर बुद्धवचनों का प्रतिनिधित्व करने वाली भाषा पालिभाषा ही है।

जिस तरह बुद्ध ने जनभाषा में उपदेश दिया था उसी तरह भगवान् महावीर ने भी अपने उपदेश तत्कालीन जनभाषा अर्द्धमागधी में दिये थे। दोनों भाषाएँ मगध में बोली जानेवाली मागधी के ही रूप हैं। दोनों सम्प्रदायों के नेताओ ने एक ही क्षेत्र में विहार कर अपने उपदेश दिये, इसलिए उन दोनों के आगम ग्रन्थों में भाषा, भाव, शैली एवं वर्णन आदि के साम्य को देखकर इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि दोनों महापुरुष—महावीर और बुद्ध—समकालीन थे। पालि ग्रन्थों के वर्णन से हमें यह भी मालूम होता है कि वे दोनों महात्मा कभी-कभी एक ही नगर, एक ही गाँव और एक ही मुहल्ले में विहार करते थे, पर इस बात का उल्लेख किसी भी सम्प्रदाय के ग्रन्थ में नहीं मिलता कि दोनों युग-पुरुषों ने अपने मतभेदों पर आपस में वार्तालाप या बहस की हो। हाँ, इस बात की सूचना जरूर मिलती है कि इन दोनों के शिष्य तथा अनुयायी वर्ग प्रायः एक दूसरे के यहाँ आते-जाते तथा शंका-समाधान व वाद-विवाद करते थे।

जो हो, पालि ग्रंथों के पढ़ने से यह स्पष्टतः विदित होता है कि भगवान् बुद्ध ने तथा उनके समकालीन शिष्यों ने जैन सम्प्रदाय की अनेकों बातों को अपनी आँखों से देखा था। इन आँखों देखे वर्णनों से हमें जैनों के इतिहास, उनके दार्शनिक सिद्धान्त और आचार विषयक मान्यताओं का बहुत कुछ परिज्ञान होता है। इन पंक्तियों द्वारा उक्त बातों को दिखलाने का किञ्चित् प्रयत्न किया जायगा।

इतिहास

पालि ग्रन्थों में जैन सम्प्रदाय का नाम 'निगण्ठ', 'निग्गण्ठ' एवं 'निगन्ध' आता है जिसे हम प्राकृत में नीयण्ठ तथा संस्कृत में निर्ग्रन्थ नाम

से कहते हैं। उक्त सम्प्रदाय के प्रचारक महात्मा का नाम नातपुत्त व नाटपुत्त रूप से मिलता है जिसे हम प्राकृत में नातपुत्त या नायपुत्त तथा संस्कृत में ज्ञातृपुत्र नाम से कहते हैं। इस तरह निगण्ठ समुदाय के नातपुत्त को एक शब्द से निगण्ठनातपुत्त कहा गया है। निगण्ठ का अर्थ पालि ग्रन्थों में बन्धनरहित है, जिसका आशय है, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित। पर नातपुत्त शब्द की व्युत्पत्ति का ज्ञान उक्त ग्रन्थों से नहीं होता। हाँ, जैन ग्रन्थों की सहायता से हम यह जानते हैं कि महावीर क्षत्रियों की एक शाखा 'ज्ञातृ'=नात=नाय में उत्पन्न हुए थे और जिस तरह बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध को शाक्य वंश में उत्पन्न होने के कारण शाक्यपुत्र कहा गया है उसी तरह महावीर को नातपुत्त। सामञ्जफल आदि कुछ सूत्रों में महावीर को अग्निवेशन (अग्निवैश्यायन) नाम से सम्बोधित किया गया है पर जैन ग्रन्थों के देखने से यह मालूम होता है कि बात गलत है। महावीर का गोत्र काश्यप था पर उनके एक प्रमुख शिष्य सुधर्मा का गोत्र अवश्य अग्निवैश्यायन था। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि पालि-ग्रन्थों के संकलनकाल में सकलन-कर्ताओं द्वारा यह विपर्यास कर दिया गया है।

पालि सूत्रों में जैन धर्म के अनुयायियों का निगण्ठपुत्त, निगण्ठ तथा निगण्ठसावक शब्द से उल्लेख किया गया है। इस सम्प्रदाय के महिलावर्ग के लिए भी निगण्ठी[१] शब्द आया है।

कतिपय बौद्ध सूत्रों में बुद्धकालीन छह अन्य तैथिकों का परम्परागत ढंग से वर्णन मिलता है। उसमें नातपुत्त का नाम भी शामिल किया गया है। उन सबके नाम के साथ निम्नलिखित विशेषण लगाये जाते हैं: 'संघी चेव गणी च, गणाचरियो, ञातो, यशस्वी, तित्थकरो, साधुसम्मतो बहुजनस्स, रत्तञ्ञू, चिरपब्बजितो, अद्धगतो, वयो अनुप्पत्तो'[२] अर्थात् संघस्वामी, गणाध्यक्ष, गणाचार्य, ज्ञानी, यशस्वी, तीर्थंकर, बहुत लोगों से सम्मानित, अनुभवी, चिरकाल का साधु, वयोवृद्ध। इनमें 'अद्धगतो' और 'वयो अनुपत्तो', इन दो विशेषणों से कुछ विद्वानों का अनुमान है कि अन्य तैथिकों के समान महावीर भी बुद्ध से आयु में बड़े थे और उस समय तक काफी वृद्ध थे। साथ ही उनका यह अनुमान है कि दीघनिकाय के संगीति पर्याय एवं पासादिक सुत्तों व मज्झिमनिकाय

---

१ मज्झिमनिकाय, उपालिसुत्त।

२ दीघनिकाय, सामञ्जफलसुत्त।

के सामगामसुत के कथनानुसार महावीर का निर्वाण भी बुद्ध से पहले हुआ था ; पर इस सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि जर्मन विद्वान् प्रो० याकोबी ने यह सिद्ध कर दिया है कि महावीर का निर्वाण बुद्ध के पीछे हुआ है। उनके मतानुसार वज्जि-लिच्छिवियों का अजातशत्रु कुणिक के साथ जो युद्ध हुआ था वह बुद्ध के निर्वाण के बाद और महावीर के जीवनकाल में हुआ था। यद्यपि वज्जि और लिच्छिवी गणों का वर्णन दोनों सम्प्रदाय के ग्रन्थों में मिलता है पर तथोक्त युद्ध का वर्णन केवल जैनागमों में ही मिलता है, बौद्धागमों में नहीं।[३] इतना ही नहीं, इन दोनों महापुरुषों की आयु को देखने से यह मालूम होता है कि महावीर बुद्ध से आयु में छोटे थे। बुद्ध निर्वाण के समय ८० वर्ष के थे जबकि महावीर ७२ वर्ष के।

साथ ही एक और बात यह है कि महावीर द्वारा स्वतंत्र रूप से धर्मोपदेश प्रारम्भ करने के पहले ही बुद्ध ने अपना धर्ममार्ग स्थापित करना शुरू कर दिया था। जो हो, पर उक्त अनेक विशेषणों में अन्त के दो विशेषण—'अद्धगतो वयो अनुप्पत्तो'—पालिसूत्रों में भी सन्देह की दृष्टि से देखे गये हैं और आश्चर्य है कि कुछ सूत्रों—महासकुलदायी (म० नि०) तथा सभियसुत्त (सुत्तनिपात)—में ये दो विशेषण नहीं पाये जाते। निगण्ठ नातपुत्त के साथ अन्य विशेषणों का समर्थन जैन आगमों से भलीभांति होता है। उपालि सुत्त के निगण्ठ, निगण्ठी शब्द से मालूम होता है कि महावीर के संघ में स्त्रियों की भी प्रव्रज्या होती थी।

भगवान् महावीर के निर्वाण को सूचित करनेवाले कतिपय तथोक्त पालिसूत्रों में लिखा है कि "जिस समय निगण्ठ नातपुत्त की मृत्यु पावा में हुई थी, उस समय निगण्ठों में फूट होने लगी थी, दो पक्ष हो गये थे...एक दूसरे को वचन रूपी बाणों से बेधने लगे, मानो निगण्ठों में वध (युद्ध) हो रहा था, निगण्ठ नातपुत्त के जो श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थ शिष्य थे, वे भी निगण्ठ के वैसे दुराख्यात, दुष्प्रवेदित, अप्रतिष्ठित, आश्रयरहित धर्म में अन्यमनस्क हो खिन्न और विरक्त हो रहे थे।"[४] इस वर्णन से यह मालूम होता है कि महावीर की मृत्यु पावा में हुई थी तथा उनके बाद ही संघभेद होने लगा था। इस कथन में भगवान महावीर का निर्वाण पावा में होना तो जैनागमों से

---

३ वीरसंवत् और जैन कालगणना, भारतीय विद्या, सिंघीस्मारक, पृष्ठ १७७।

४ दीघनिकाय, संगीतिपर्याय एवं पासादिक सुत्त; मज्झिमनिकाय, सामगामसुत्त।

समर्थित है। यह पावा जैन-बौद्ध आगमों के अनुसार मल्लों की पावा थी जो की वर्तमान गोरखपुर जिले में अनुमानित है। पर संघभेद की बात उस प्रारम्भिक काल में जैन ग्रन्थों से समर्थित नहीं होती। जैन मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर के निर्वाण के दो ढाई सौ वर्ष बाद कुछ कारणों से संघभेद हुआ था। ऐसा मालूम होता है कि महावीर के निर्वाण की घटना के समान ही यह घटना उक्त सूत्रों में या तो निराधार ढंग से जोड़ दी गई या पिटकों के संकलन काल में श्वेताम्बर-दिगम्बर संघभेद की घटना को पीछे से विपर्यास रूप में ला दिया गया। उक्त कथन में गृहस्थ शिष्यों का श्वेतबस्त्रधारी विशेषण सूचित करता है कि श्वेताम्बर साधुओं को भूल से गृहस्थ के रूप में समझ लिया गया है; पर इस उल्लेख से इतना तो मानना पड़ेगा कि पालि के ग्रन्थ जैनों के संघभेद से परिचित थे, चाहे वह पहले हुआ हो या पीछे।

पालि ग्रन्थों से यह भी सूचित होता है कि भगवान महावीर और उनके अनुयायियों के विहार क्षेत्र अंग, मगध, काशी, कोशल तथा वज्जि, लिच्छिवि एवं मल्लों के गणराज्य थे। राजगृह, नालन्दा, वैशाली, पावा, और श्रावस्ती में जैन लोग प्रधान रूप से रहते थे तथा वैशाली के लिच्छिवि जैन धर्म के प्रबल समर्थक थे।

मज्झिमनिकाय और अंगुत्तर निकाय के कतिपय सूत्रों में लिखा है कि "निगण्ठ लोग महावीर को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अपरिमित ज्ञान एवं दर्शन से युक्त, चलते फिरते, खड़े रहते, सोते, जागते, अपरिशेष ज्ञानदर्शन से युक्त मानते थे।"[५] यह कथन जैनागमों से समर्थित है, और जैन मान्यता इसके अनुरूप है। यहाँ अपरिशेष ज्ञानदर्शन जैनागमों के केवलज्ञान और केवल-दर्शन को सूचित करता है। सर्वज्ञता के सम्बन्ध में भग० बुद्ध का यह मत था कि वे न तो स्वयं सर्वज्ञ होने का दावा करते थे और न दूसरों को ही वैसा मानते थे। सन्दकसुत्त[६] में उनके शिष्य आनन्द ने सर्वज्ञता का इस प्रकार परिहास किया है: एक शास्त्रसर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अशेष ज्ञानदर्शन वाला होने का दावा करता है, तो भी वह सूने घर में जाता है, वहां भिक्षा भी नहीं पाता, कुक्कुर भी काट खाता है, सर्वज्ञ होने पर भी स्त्री, पुरुषों के नाम गोत्र पूछता

---

५ चूल दुक्खन्धसुत्त, चूलसकुलदायिसुत्त; अंगुत्तरनिकाय III, पृ० ७४, IV, पृ० ४२८।

६ मज्झिमनिकाय, ७६।

है, ग्राम निगम का नाम और रास्ता पूछता है, 'आप सर्वज्ञ होकर यह क्यों पूछते हैं' यह कहे जाने पर कहता है कि सूने घर में जाना विहित था इसलिए गये, भिक्षा मिलनी विहित न थी, इसलिए न मिली, कुक्कुर का काटना विहित था इसलिए उसने काटा आदि। यह आलोचना हमें सूचित करती है कि उस समय तथोक्त सर्वज्ञता की मान्यता के साथ-साथ उसकी खड़ी आलोचना भी होने लगी थी।

दर्शन

भगवान् महावीर की दार्शनिकता की पृष्ठभूमि क्रियावाद (कर्मवाद) था। विनयपिटक के महावग्ग ग्रन्थ में सिंहसेनापति के प्रसंग में तथा अंगुत्तर निकाय[७] में निगण्ठमत को किरियावाद (क्रियावाद) नाम से कहा गया है। इस वाद का अर्थ है "सुख-दुखं सयं कृतं"[८] अर्थात् सुख-दुःख का कर्ता जीव स्वयं है। सूत्र-कृतांङ्ग में यही बात यों कही गई है "सयं कडंच दुक्खं नाण्णकडम्"[९] अर्थात् जीव स्वयं किये गये सुख-दुःख का कर्त्ता एवं भोक्ता है, इसके सुखदुःख का विधाता और कोई नहीं। क्रियावाद की इस निगण्ठ मान्यता को मज्झिम निकाय के देवदत्तसुत्त में अच्छी तरह रखा गया है : यह पुरुष पुद्गल जो कुछ भी सुखदुःख या अदुःख असुख अनुभव करता है वह सब पहले (पुरुष-पूर्व) किये गये कर्मों के कारण ही। इन पुराने कर्मों का तपस्या द्वारा अन्त करने से तथा नये कर्मों को न करने से, भविष्य में विपाक रहित अनाश्रव होता है। विपाक रहित होने से कर्मक्षय, कर्मक्षय से दुःखक्षय और दुःखक्षय से वेदनाक्षय और वेदनाक्षय से सभी दुःख जीर्ण हो जाते हैं।"

यहाँ भगवान् महावीर ने आध्यात्मिक शुद्धि के लिए तपस्या का प्रतिपादन किया। इस दृष्टिकोण से निर्ग्रन्थ साधु कठोर तपश्चरण करते हैं। पर बुद्ध ने इस तपस्या की आलोचना करते हुए कहा है कि तुम्हारी साधना या तपोमार्ग व्यर्थ है, यदि तुम यह नहीं जानते कि हम कैसे थे, कैसे हैं, कौन कौन से पाप किये हैं, कितने पाप नष्ट हो गए, कितने और नष्ट होने हैं; कब इनसे छुटकारा मिल जायगा[१०] आदि। निर्ग्रन्थ तपस्या की ऐसी ही आलोचनाएँ पाली ग्रन्थों में कई स्थानों में देखने में आती हैं। परन्तु इन

---

७ भाग ४, पृष्ठ १८०-१८१।

८ अंगुत्तर निकाय, भाग ३, पृ० ४४०।

९ १. १२. ॥।

मज्झिमनिकाय, चूलदुक्खक्खन्ध एवं देवदत्तसुत्त।

आलोचनाओं में, मालूम होता है, बुद्ध ने निर्ग्रन्थ तपस्या की अन्तरात्मा की आलोचना न कर केवल उसके उग्र बाह्य रूप की ही आलोचना की है। निर्ग्रन्थ परम्परा की मान्यता है कि कायक्लेश या तपस्या चित्त के मलों को हटाकर आध्यात्मिक शुद्धि के लिए है। यदि उससे यह काम नहीं होता तो वह व्यर्थ है। इस दृष्टि से बुद्ध की आलोचना और जैन मान्यता में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं रह जाता।

भग० महावीर ने क्रियावाद की स्थापना में यह घोषित किया कि इस संसार में प्राणियों का जीवन अंशतः भाग्य (पूर्वजन्मकृत) पर और कुछ मानवीय प्रयत्नों (इहजन्मकृत) पर निर्भर है। इस तरह निययानियय (नियतानियत) सिद्धान्त की स्थापना कर तत्कालीन अन्य क्रियावादियों से अपना स्पष्ट मतभेद प्रकट किया। उन्होंने बतलाया कि पूर्वजन्मकृत कर्मों के अधीन हो हमने कैसे भवभ्रमण किया और कैसे अब कर रहे हैं। भग० बुद्ध भी क्रियावादी थे पर उनका सिद्धान्त था कि हम हेतु प्रभव हैं और हेतुओं (पतीत्य समुत्पाद) के कारण चक्कर काट रहे हैं।[११]

इन दोनों क्रियावादियों के मतभेद को दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि महावीर अन्तरंग और बहिरंग दोनों शक्तियों को मानकर चलते हैं, बुद्ध केवल अन्तरंग शक्ति अर्थात् मन (मनोपुब्बंगमा धम्मा) पर चलते हैं। एक ने बहिरंग काय-कर्म (दण्ड) वचन-कर्म (दण्ड) और अन्तरंग मनःकर्म (दण्ड) को बन्धन रूप से प्रतिपादित किया है तो दूसरे ने केवल अन्तरंग मन को ही अनर्थकर बतलाया है। मज्झिमनिकाय के उपालिसुत्त में यही चर्चा उठाई गई है कि निगण्ठ नातपुत्त काय, वचन और मन रूप से तीन दण्ड मानते हैं जबकि बुद्ध ने काय, वचन और मन को तीन कर्म माना है; पर इन दोनों के मतों की उक्तसूत्र में आलोचना करते हुए यह दिखलाया गया है कि महावीर कायदण्ड को महापापवाला मानते हैं जब कि बुद्ध मनःकर्म को। इस प्रसंग में दण्ड और कर्म का एक ही अर्थ समझना चाहिये, परन्तु महावीर के मत में कायदण्ड को ही सबकुछ बतलाकर उसे गलत ढंग से उपस्थित किया गया है। उपालिसूत्र में यदि हम बुद्ध और उपालि के बीच हुए सम्वाद को सूक्ष्मरीति से पढ़ें, तो महावीर की मान्यता का यथार्थ रूप समझ सकते हैं: "बुद्ध : 'चतुर्याम संवर से संवृत निगण्ठ आते जाते बहुत छोटे-छोटे प्राणिसमुदाय को मारता है। हे गृहपति! निगण्ठनातपुत्त इनका

---

११ महावग्ग, सारिपुत्त-मोग्गलान प्रव्रज्या।

क्या फल बतलाते हैं ?" उपालि : "भन्ते, अनजान (असंचेतनिक) को निगण्ठनातपुत्त महादोष नहीं मानते, जानकर किये गये कर्म को ही पाप मानते हैं।" इस संवाद से यह निष्कर्ष निकलना सरल है कि मनःपूर्वक (जानकर) किया गया कर्म ही पापकर है।

महावीर का यह सिद्धान्त कि मनःकर्म और कायकर्म दोनों समान रूप से पापजनक हैं, मज्झिमनिकाय के महासच्चकसुत्त से भलीभाँति समर्थित होता है। उक्त सूत्र में निगण्ठपुत्त सच्चक आजीवक और बुद्ध के मत की आलोचना करते हुए कहता है कि आजीवक तो कायिक भावना में तत्पर हो विचरता है, चित्तकी भावना में नहीं, और बुद्ध चित्तकी भावना में लगा रहता है, कायिक भावना में नहीं। उक्त आलोचना से महावीर के मत का निष्कर्ष निकलना कोई कठिन नहीं। महावीर के मत में 'कायन्वयं चित्तं होति, चित्तन्वयो कायो होति' अर्थात् काय और मन दोनों की भावना से मुक्ति मिल सकती है न कि केवल काय या केवल मन की भावना से। इसी तरह पाप भी दोनों के संयोग से होगा।

इससे अब हम यह अच्छी तरह समझ सकते हैं कि मन और काय की द्वन्द्वात्मक क्रिया पर नियंत्रण करने के लिए महावीर ने तपस्या के आधार को कायमनोविज्ञानात्मक बनाया और मनोसंवर तथा कायक्लेश को अपने धर्म में महत्व दिया। उनका कहना था कि : पुरुष जिन सुखदुःखों का अनुभव करता है वह सब पूर्वजन्म में किये कर्म के कारण ही, उसे कड़वी दुष्कर तपस्या से नष्ट करो और जो अब यहाँ वचन मन को संवृत कर कर्म करोगे तो भविष्य में पाप न होंगे। इस तरह पुराने कर्मों का तपस्या से अन्त करने पर और नवीन कर्मों को न करने से भविष्य में आश्रव न होगा और आश्रव न होने से कर्मों का क्षय और कर्मों के क्षय होने से दुःखों का नाश तथा दुःखों के नाश से वेदना का नाश और वेदना के नाश से सब पाप जीर्ण हो जावेंगे।[१२] उनका दूसरा कथन था कि : पूर्व जन्ममें किये गये पापकर्म यदि अविपक्वफलवाले होंगे तो उनके कारण दुःख वेदनीय आश्रव आते रहेंगे जिनका जन्मान्तर में फल मिलेगा।[१३] उनका उपदेश था कि सुख से सुख नहीं पाया जा सकता, दुःख से ही सुख मिल सकता है। यदि सुख से सुख मिल सके तो राजा श्रेणिक भी उसे पा सकता है।[१४]

---

१२ चूलदुक्खक्खन्धसुत्त।

१३ अंगुत्तरनिकाय, चतुक्कनिपात, १९५ सुत्त।

१४ चूलदुक्खक्खन्धसुत्त।

पालि के सुत्तों से महावीर के क्रियावाद के अतिरिक्त उनके ज्ञानवाद का भी थोड़ा संकेत मिलता है। संयुक्तनिकाय के चित्तसंयुत्त में अपना अभिमत प्रकट करते हुए महावीर ने कहा है कि : "सद्धाय खो गहपति ञाणं एवं पणीततरं" अर्थात् श्रद्धा से बढ़कर कहीं ज्ञान है। यह कथन जैन ग्रन्थों से मिलता है। जैन दर्शन में ज्ञान को स्वपरप्रकाशक माना गया है और उसे "सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं" के रूप में भी स्वीकृत किया है।

आचारमार्ग

पालि ग्रन्थों से हमें जैन श्रावकों एवं मुनियों के आचारविषयक नियमों की भी थोड़ी बहुत जानकारी होती है। इन वर्णनों से मालूम होता है कि निर्ग्रन्थ समुदाय के नियमों का एक व्यवस्थित रूप था जिनका पालन उस समय एक विशिष्ट वर्ग के लोग करते थे। इतना ही नहीं, भग० बुद्ध ने बुद्धत्वप्राप्ति के पहले जिन साधना मार्गों और नियमों का पालन कर त्याग किया था, उसमें कुछ ऐसे भी थे जो निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय में तब प्रचलित थे और आज भी पालन किये जाते हैं। उदाहरण के लिए मज्झिमनिकाय के महासीहनाद को ही लें। इस सूत्र में अचेलक सम्प्रदाय के रूप में जैन मुनियों के कुछ आचारों का वर्णन मिलता है। यद्यपि पालि ग्रन्थों में अचेलक (वस्त्ररहित) का अर्थ आजीवक सम्प्रदाय ही लिया गया है पर जैनागमों को देखने से मालूम होता है कि अचेलक निर्ग्रन्थसम्प्रदाय में भी थे। स्वयं महावीर वस्त्ररहित (नग्न) थे। आजीवक भी नग्न रहते थे। प्रो० याकोबी ने पालि ग्रन्थों में वर्णित आजीवकों के आचारों से जैनाचारों की समानता तथा जैनागमों में वर्णित महावीर और आजीवक नेता मक्खली गोशाल का ६ वर्षों तक निरन्तर साहचर्य देखकर यह निष्कर्ष निकाला है कि आजीवक और निर्ग्रन्थ आपस में एक दूसरे से अवश्य प्रभावित हुए हैं। जैनों की मान्यता है कि भग० महावीर के पहले जैन परम्परा के प्रतिष्ठापक भगवान पार्श्वनाथ हो गये हैं जिनके चलाये आचार-विचार के नियम उस समय आजीवकों, निर्ग्रन्थों और बुद्ध के सामने थे। जो हो, पर महासीहनाद और महासच्चक सूत्रों में अचेलकों के नाम से जिन आचारों का वर्णन दिया गया है वे ही आचार आचारांग, दशवैकालिक आदि सूत्रों में निर्ग्रन्थो के आचार रूप में वर्णित हैं। उन सूत्रों में उनका वर्णन संक्षेप में यों है : "अचेलक रहना, मुक्ताचार होना (स्नान, दातुन नहीं करना, खड़े होकर भोजन करना), हाथ चाटकर खाना, आइये भदन्त ! खड़े रहिये

भदन्त ! ऐसा कोई कहे तो उसे सुना अनसुना कर देना, सामने लाकर दी हुई भिक्षा का, अपने उद्देश्य से बनाई हुई भिक्षा का और दिये गये निमन्त्रण का अस्वीकार ; जिस वर्तन में रसोई पकी हो, उसमें से सीधी दी गई भिक्षा का अस्वीकार, भोजन करते हुए दो में से उठकर एक के द्वारा दी जाने वाली भिक्षा का, गर्भिणी स्त्री के द्वारा दी हुई भिक्षा का और पुरुषों के साथ एकान्त में स्थित स्त्री के द्वारा दी जाने वाली भिक्षा का अस्वीकार, कभी एक घर से एक कौर, कभी दो घर से दो कौर आदि भिक्षा लेना, तो कभी एक उपवास, कभी दो उपवास आदि करते हुए पन्द्रह उपवास करना, दाढ़ी मूंछों का लुंचन करना, खड़े होकर और उक्कुडु आसन पर बैठकर तप करना, स्नान का सर्वथा त्याग करके शरीर पर मल धारण करना, इतनी सावधानी से जाना आना कि जल के या अन्य किसी सूक्ष्म जन्तु का घात न हो, कड़ी ठंड में खड़े रहना आदि आदि।"

तपस्या जैन साधु जीवन का मुख्य अंग था। उसके कारण जैन मुनि दीर्घतपस्वी जैसा नाम भी पाते थे। वे लोग तपस्या का आचरण प्रायः खड़े होकर (उब्भट्टको), आसन छोड़कर (आसन पटिक्खित्तो) करते थे। वह तपस्या बड़ी दुःखकर, तीव्र (तिप्पा) एवं कड़वी (कटुका) होती थी।[१५]

चातुर्यामसंवर : दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में निगण्ठनायपुत्त को चतुर्यामसंवर से संवृत लिखा है। वहाँ चतुर्याम संवर का अर्थ दिया गया है—सब प्रकार के पानी से संवृत (सब्बवारिवारितो), सभी पापों से निवृत (सब्बवारियत्तो), सभी पापों की शुद्धि होने से संवृत (सब्बावारि धुतो), सभी पाप हानि से सुख अनुभव करने वाला—सब्बवारि पुट्ठो। पालि का यह चतुर्याम संवर हमें जैनागमों के चाउज्जाम (चतुर्याम) की याद दिलाता है जिसका अर्थ होता है चार व्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह। इन चतुर्यामों को, जैनागमों के अनुसार, उपदेश देने वाले भग० पार्श्वनाथ थे जो कि भग० महावीर से २५० वर्ष पहले हुए थे। महावीर ने इन चार यामों में एक और याम-ब्रह्मचर्यव्रत-मिलाकर पञ्चयाम अर्थात् पञ्चमहाव्रतों की स्थापना की। पर उक्त पालि सूत्र में चतुर्याम संवर का जो अर्थ दिया गया है वह एकदम भ्रान्त एवं अस्पष्ट है। निर्ग्रन्थ परम्परा के यथार्थ चतुर्याम संवर से भग० बुद्ध या उनकी समकालीन शिष्यमण्डली अच्छी तरह परिचित न रही हो सो बात नहीं। मज्झिम निकाय के चूलसकुलदायि एवं

---

१५ मज्झिमनिकाय, चूलदुक्खक्खन्धसुत्त।

संयुत्तनिकाय के गामिणी संयुत्त के आठवें सूत्र से मालूम होता है कि प्राणातिपात (हिंसा), अदिन्नादान (चोरी, कामेसु मिच्छाचार (अब्रह्मचर्य), मुसावाद (असत्य) से विरक्त होने का उपदेश भगवान् महावीर सदा देते थे तथापि इन सूत्रों में उन बातों का चतुर्यामसंवर नाम से उल्लेख नहीं किया गया। बौद्ध-परम्परा में निर्ग्रन्थ परम्परा के इन चतुर्याम या पञ्चयामों का एक रूपान्तर पञ्चशील एवं दशशील के रूप में प्रतिपादन किया गया है तथा वे उक्त नाम से ही वहाँ समझे गये हैं। महावीर और बुद्ध के समय के चतुर्याम संवर को बौद्ध भिक्षु जानते अवश्य थे पर पीछे उसके अर्थसूचक तत्वों का अपने ग्रन्थों में नामान्तर देख जैन परम्परा के अर्थ को भूल गये। मालूम होता है कि पीछे जब पालि पिटकों का संकलन हुआ तो उस समय चतुर्याम संवर का अर्थ देने की आवश्यकता पड़ी और किसी बौद्ध भिक्षु ने अपनी कल्पना से उक्त अर्थ की योजना कर दी। जो हो, पर चतुर्याम का ठीक अर्थ वहाँ नहीं दिया गया। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि महावीर की अहिंसा की चरमसाधना को दृष्टि में रखकर ही चतुर्याम का पालि सूत्र में उक्त अर्थ प्रतिपादित किया गया है। सब प्रकार के पानी के त्याग का सीधा अर्थ यह है कि जैन लोग ठण्डे पानी में जीव मानते हैं और उसको प्राशुक बनाकर ही उपयोग करते हैं। जैन मुनि अप्राशुक ठण्डा पानी नहीं ले सकते। इस आचरण से पालि ग्रन्थ अच्छी तरह परिचित हैं। उपालिसुत्त में स्पष्ट लिखा है महावीर 'सीतोदकपटिक्खत्तो' (ठण्डेपानी का त्यागी), 'उण्होदक पटिसेवी' (उष्ण जल लेने वाले) थे।

जैन श्रावकों के कुछ व्रत

अंगुत्तर निकाय के तृतीय निदान के ७० वें सूत्र में निगण्ठोपसथ नाम से जो वर्णन दिया गया है उसमें हमें जैन श्रावकों के दिग्व्रत और पौषध व्रतों का परिचय मिलता है। उक्त सूत्र में भगवान बुद्ध ने विशाखा नाम की उपासिका के लिए गोपालक-उपोसथ और निगण्ठ उपोसथ का परिहास करते हुए, आर्य उपोसथ का उपदेश दिया है। निगण्ठ उपोसथ का वर्णन इस प्रकार है : हे विशाखे! श्रमणों की एक जाति है जिसे निगण्ठ कहते हैं। वे लोग अपने श्रावकों को बुलाकर कहते हैं कि "प्रत्येक दिशा में इतने योजन से आगे जो प्राणी हैं उनका दण्ड—हिंसक व्यापार छोड़ो। देखो विशाखे! वे निर्ग्रन्थ श्रावक अमुक अमुक योजन के बाद न जाने का निश्चय करते हैं और उतने योजन के बाद प्राणियों की हिंसा का त्याग करते हैं तथा साथ ही वे

मर्यादित योजन के भीतर आने वाले प्राणियों की हिंसा का त्याग नहीं करते, इससे वे प्राणातिपात से नहीं बचते हैं।"

भग० बुद्ध के इन वचनों में जैन श्रावकों के १२ व्रतों में के प्रथम गुणव्रत-दिग्व्रत को पहिचानना कठिन नहीं है। दिग्व्रत का अर्थ है पूर्व, उत्तर, दक्षिण, पश्चिम की दिशाओं में योजनों का प्रमाण करके उससे आगे दिशाओं और विदिशाओं में न जाना। इससे श्रावक अपने अल्प इच्छा नाम के गुण की वृद्धि करता है।

उसी प्रसंग में आगे कहा गया है: वे लोग उपोसथ के दिन (तदह उपोसथे) श्रावकों से इस तरह कहते हैं कि "हे भाइयों! तुम सब कपड़ों का त्याग कर ऐसा कहो कि मैं किसी का नहीं हूँ और मेरा कोई नहीं है इत्यादि। पर यह कहनेवाले यह निश्चित रूप से जानते हैं कि अमुक मेरे माता-पिता हैं, अमुक मेरा पुत्र, स्त्री, स्वामी एवं दास है। पर ये इस तरह जानते हुए भी जब यह कहते हैं कि मैं किसी का नहीं हूँ और मेरा कोई नहीं है, तो वे अवश्य झूठ बोलते हैं।

इन शब्दों में जैन गृहस्थ के बारह व्रतों में से द्वितीय शिक्षाव्रत-पौषध का उल्लेख मिलता है। जैन ग्रन्थों में यह पौषधव्रत उत्तम, मध्यम और जघन्य तीन प्रकार से कहा गया है। उत्तम पौषध वह है जिसमें जैन श्रावक सब प्रकार के आहार का त्याग कर मर्यादित समय के लिए वस्त्र, अलंकार, कुटुम्ब से सम्बन्ध आदि का त्याग कर देता है। मध्यम उपोसथ में यद्यपि विधि पूर्ववत् ही रहती है पर श्रावक उसदिन जलमात्र ग्रहण करता है। जघन्य पौषध में आहार भी ग्रहण करता है। इस जघन्य उपोसथ को हम उक्त प्रसंग में ही परिहास के ढंग से वर्णन किये गये गोपालक उपोसथ के रूप में पहचान सकते हैं: "हे विशाखे! जैसे सायंकाल ग्वाले गायों को चराकर उनके मालिकों को वापस सौंपते हैं तब कहते हैं कि आज अमुक जगह में गायें चरी, अमुक जगह में पानी पिया और कल अमुक अमुक स्थान में चरेंगी और पानी पियेंगी···आदि। वैसे ही जो लोग उपोसथ लेकर खानपान की चर्चा करते हैं वे आज हमने अमुक खाया, अमुक पिया और अमुक खायेंगे, अमुक पान करेंगे, ऐसी चर्चा करने वालों का उपासोथ गोपालक उपोसथ है।"

इस तरह बौद्ध ग्रन्थों में बिखरी हुई सामग्री को जैन ग्रन्थों से तुलना कर तत्कालीन जैन धर्म का रूप अच्छी तरह जाना जा सकता है।

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

श्री हेमचन्द्राचार्य

[पूर्वानुवृत्ति]

प्रत्युत्तर में मेघरथ बोले—इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में वैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी पर अलका नामक एक नगरी है। वहाँ विद्याधरराज विद्युतवेग और उनकीं रानी मनोरमा निवास करती है। उनको एक पुत्र हुआ जो वृक्ष *की तरह महा शक्तिशाली था। उसके जन्म के पूर्व* रानी ने सिंहवाहित एक रथ देखा था अतः उसका नाम रखा सिंहरथ। वयः प्राप्त होने पर चन्द्र जैसे रोहिणी से विवाह करता है उसी प्रकार उसने अपने उपयुक्त और अनुकूल कुलोत्पन्ना वेगवती से विवाह किया। कालान्तर में विद्युत्रथ ने उसे युवराज पद पर अधिष्ठित किया। पुत्र के वयस्क हो जाने पर राजा का यही कर्त्तव्य होता है। तदुपरान्त सिंहरथ सिंह जैसे अरण्य में इच्छानुसार विचरण करता है उसी प्रकार वे क्रीड़ा क्षेत्रों में, उद्यानों में, बावियों में यौवन सुख भोग करते हुए विचरण करने लगे।

एक दिन विद्युत्रथ के मन में आया कि इस संसार में सब कुछ विद्युत प्रभा की तरह ही क्षण-भंगुर है। इस भाँति संसार-विरक्त होकर उन्होंने सिंहरथ को सिंहासन पर बैठाया और गुरु के सम्मुख जाकर सब प्रकार के आरम्भ-समारम्भों से संयम ले लिया। मुक्ति के आकांक्षी होकर उन्होंने संयम और व्रत का पालन कर ध्यान के द्वारा अष्ट कर्मों को क्षय कर अन्ततः मोक्ष प्राप्त किया।

उदीयमान सूर्य की तरह प्रभा सम्पन्न सिंहरथ ने क्रमशः जिसे पाना कठिन है ऐसे विद्याधरों के चक्रवर्तीत्व को प्राप्त किया। एकदिन रात में उन्होंने विनिद्र योगी की तरह इस प्रकार चिन्तन किया वनजात यूथि पुष्प की तरह मेरा जीवन व्यर्थ है। संसार सागर को अतिक्रम करने में जो जहाज-से हैं ऐसे सर्वज्ञ अर्हतों के समवसरणों को मैंने आज तक देखा नहीं और न उनकी उपासना की। अब मैं ऐसे अर्हतों का दर्शन कर स्वयं को पवित्र और धन्य बनाऊँ कारण उनका एक बार दर्शन करना ही स्वप्न में देखे कल्पतरु-सा है।

ऐसा सोचकर वे पत्नी सहित अर्हत् अमितवाहन के दर्शनों के लिए घातकीखंड स्थित पश्चिम विदेह की सीतोदा नदी के तट पर स्थित सूत्र विजय के खड्गपुर नगर में गए। अर्हत् की वन्दना कर उन्होंने वहाँ संसार-सागर को उत्तरण करने में जहाज-सी उनकी देशना सुनी। संसार-दावानल को निर्वापण करने वाली उनकी देशना सुनकर और उन्हें वन्दना कर वे स्व-नगरी को लौटने को यात्रायित हुए। जाने के समय उनके विमान की

गति समुद्र स्थित शर वन से जैसे जहाज की गति अवरुद्ध हो जाती है वैसे ही अवरुद्ध हो गयी।

मेरे विमान की गति किसके द्वारा रुद्ध हुई है यह जानने को उन्होंने नीचे देखा और मुझे वहाँ खड़े देखा। क्रुद्ध होकर उन्होंने मुझे उठा लेना चाहा किन्तु मैंने उन्हें बाएँ हाथ से पकड़ लिया। सिंह द्वारा पकड़ा गया हाथी जैसे चिल्ला उठता है वैसे ही वे चिल्ला पड़े। यह देखकर उनकी पत्नी और अनुचरों ने मुझसे उनकी सुरक्षा चाही। मैंने उन्हे जब मुक्त कर दिया तो उन्होंने इस भूतवाहिनी की सृष्टि कर उस संगीतानुष्ठान का आयोजन किया है।

प्रियमित्रा ने पुनः पूछा—देव, इन्होंने पूर्व जन्म में ऐसा क्या किया था जो इस जन्म में ऐसी ऋद्धि के अधिकारी बने हैं?

मेघरथ बोले—देवी, पुष्करार्द्ध के पूर्व भरत में सिंहपुर नामक एक नगर है। वहाँ उच्चकुलजात राजगुप्त रहते थे। दारिद्र्य के कारण वे अन्य के यहाँ काम कर अपनी जीविका का निर्वाह करते थे। शंखिका नामक उनकी एक पत्नी थी। वह जिस प्रकार उनके अनुगत थी वैसी ही धर्म के प्रति श्रद्धाशील थी। वह भी अन्य के घर काम करती थी।

एक दिन फलों के लिए वे दोनों वृक्षों से शोभित सिंहगिरि पर्वत पर गए। इधर-उधर फलों की खोज करते हुए उन्होंने मुनि सर्वगुप्त को देखा। उस समय वे देशना दे रहे थे। विद्याधर सभा में उपविष्ट उन मुनि के पास जाकर उन्हें वन्दना कर वे भी वहाँ बैठ गए। मुनि ने उनके लिए विशेष रूप से धर्म का उपदेश दिया। कारण महान् व्यक्ति दरिद्र के प्रति विशेष करुणार्द्र होते हैं।

देशना शेष होने पर वे मुनिराज को प्रणाम कर बोले, भगवन्, हमने पापी होने पर भी आज भाग्योदय से आपका दर्शन प्राप्त किया है। आप तो स्वभाव से ही सबके प्रति करुणाशील हैं फिर भी हम दुःखी आपसे अनुरोध करते हैं, हे जगत्पूज्य, हमें कोई ऐसी तप-विधि का विधान दें जो हमें इस दारिद्र्य से मुक्त कर दे। मुनि ने उनके उपयुक्त बत्तीस कल्याणक तप का विधान दिया। वे सम्मत होकर घर लौट आए और तीन-तीन दिनों के दो उपवास, एक-एक दिन के बत्तीस उपवास किए। व्रत के पारने के दिन वे दरवाजे की ओर देखते हुए किसी अतिथि रूप में मुनि की प्रतीक्षा करने लगे। ठीक उसी समय मुनि धृतिधर उनके घर में प्रविष्ट हुए। मुनि धृतिधर को उन्होंने भक्ति-भाव से आहार-पानी बहराया।

कालान्तर में मुनि सर्वगुप्त पुनः वहाँ आए। वे फिर देशना सुनने गए। देशना सुनकर विवेकशील होने के कारण मानव-जन्म को कल्पवृक्ष रूप फल प्रदान करने वाली मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली। गुरु के आदेश से मुनि राजगुप्त ने कठिन आचामाम्ल (आयंबिल) वर्द्धमान तप किया और अन्त में चार शरण ग्रहण कर, अनशन धारण कर लिया। मृत्यु के पश्चात् दस सागरोपम की आयु लेकर वे ब्रह्मलोक में देव-रूप में उत्पन्न हुए।

ब्रह्मलोक से च्युत होकर राजगुप्त विद्युतरथ के पुत्र रूप में विद्याधर राज सिंहरथ हुए। इनकी पत्नी सिंहिका भी बहुविध तपस्या कर ब्रह्मलोक में देवरूप में उत्पन्न हुई। वहाँ से च्युत होकर उनकी पत्नी रूप में उत्पन्न हुई। अब वे स्व-नगर लौटकर अपने पुत्र को सिंहासन पर बैठाकर मेरे पिता से दीक्षा ग्रहण करेंगे। तप और ध्यानादि से अष्टकर्मों को क्षय कर केवल ज्ञान प्राप्त करेंगे और अन्त में मोक्ष जाएंगे।

यह विवरण सुनकर सिंहरथ मेघरथ को भक्ति-भाव से प्रणाम कर अपने राज्य को लौटे और पुत्र को सिंहासन पर बैठाया। मन उपशान्त होने से उन्होंने घनरथ से दीक्षा ग्रहण की और तपादि अनुष्ठान कर मोक्ष प्राप्त किया।

अन्तःपुरिका और अनुचरादि सहित राजा मेघरथ देवरमण उद्यान से पुण्डरिकिनी नगरी आए। कालान्तर में एक दिन जब वे पौषधव्रत ग्रहण कर पौषधशाला में बैठे विज्ञजनों से जिन प्ररुपित धर्म की व्याख्या कर रहे थे उसी समय एक कपोत मृत्यु भय से करुण नयन लिए काँपता हुआ उनकी गोद में आ बैठा। मनुष्य की भाषा में जब वह विनती करने लगा—महाराज मेरी रक्षा करें, तब उन्होंने डरो मत, डरो मत कहकर प्रबोध दिया। उस प्रबोध से शान्त होकर वह करुणा सागर राजा की गोद में पुत्र जैसे पिता की गोद में बैठता है वैसे ही निश्चिन्त होकर आराम से बैठ गया। तभी सर्प के पीछे वह गरुड़-सा दौड़ता हुआ आया और मनुष्य की भाषा में राजा से निवेदन किया, महाराज, यह मेरा आहार है। उसे शीघ्र छोड़ दें। राजाने कहा—मैं उसे तुम्हें नहीं सौपूँगा। कारण आश्रित का परित्याग करना क्षत्रिय धर्म नहीं है। तदुपरान्त तुम्हारे जैसे बुद्धिमान पक्षी को स्व-जीवन के लिये अन्य की हत्या करना उपयुक्त नहीं है। तुम्हारी पूँछ से यदि कोई एक पंख नोच ले तो उससे तुम्हें जैसी व्यथा होगी वैसी ही व्यथा दूसरों को भी तुम्हारे इस कार्य से होगी फिर हत्या का तो कहना ही क्या? उसको खाकर क्षुधा निवारण की तुम्हारी तृप्ति क्षणिक है किन्तु उसका तो जीवन ही खत्म हो जाएगा। जो पंचेन्द्रिय जीवों की हत्या करते हैं, उनका मांस खाते हैं, उन्हें नरकवास का

असह्य दुःख भोगना पड़ता है। क्षुधार्त्त होने पर भी विवेकवान जीव के लिए एक ओर असीम यातनादायी और दूसरी ओर मुहूर्त भर के लिए सुखप्रद ऐसी जीव हत्या करना उचित नहीं है। अन्य खाद्य से भी तुम्हारी क्षुधा का निवारण हो सकता है। जो पित्ताग्नि चीनी से निवारित हो सकती है वह दूध से भी हो सकती है। जीव हत्या करके जो नरक दुःख भोगना पड़ता है उसे सहन करने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं रहता है। अतः जीव हत्या से विरत होकर अहिंसा नीति का पालन करो जिससे जन्म-जन्मान्तरों में सुख प्राप्त हो।

बाज पक्षी ने भी मनुष्य की भाषा में ही प्रत्युत्तर दिया—मेरे भय से यह कपोत आपकी शरण में आया है किन्तु मैं क्षुधार्त्त किसकी शरण में जाऊँ आप ही कहिए। क्योंकि जो महान् है करुणाशील है उनकी करुणा तो सब पर समान ही होगी। आप जिस प्रकार उसकी रक्षा कर रहे हैं उसी प्रकार मेरी भी रक्षा करिए। भूख के मारे मेरी श्वाँसें रुक रही हैं। अच्छा और बुरे का व्यवहार तो जीव तब करता है जब वह स्वच्छन्द रहता है। धर्म-प्राण व्यक्ति भी क्षुधा से पीड़ित होकर क्या-क्या अन्याय नहीं कर बैठता। अतः हे राजन्, अभी नीति की बात छोड़िए। यह मेरा आहार है। उसे मुझे लौटा दें। यह कैसी नीति है कि एक की रक्षा के लिए दूसरे की हत्या करें। राजन्, मैं और किसी भी भोजन से तृप्त नहीं हो सकता। मेरे द्वारा निहत भय त्रस्त जीवों के मांस खाने का ही मैं अभ्यस्त हूँ।

मेघरथ बोले—मैं इस कबूतर के वजन के बराबर मांस अपनी देह से काटकर तुम्हें दूँगा। उसे खाकर तुम अपनी क्षुधा शान्त करो।

तब ऐसा ही हो, कहकर बाज ने यह बात स्वीकार कर ली। राजा ने तुला दण्ड पर एक ओर उस कबूतर को रखा और दूसरी ओर अपनी देह से मांस काटकर पलड़े में रखने लगे। किन्तु राजा जितना मांस काट-काटकर पलड़े में रखते जाते वह कबूतर भी उसी प्रकार भारी होता चला जाता। राजा ने जब देखा यह कबूतर अपना वजन बढ़ाता जा रहा है तो वे स्वयं तराजू पर चढ़ गए। राजा को तुलादण्ड पर चढ़ते देख उनके अनुचर हाय-हाय करने लगे मानो सन्देह की तुलादण्ड पर वे चढ़ गए हों। सामन्त एवं मन्त्रीगण उनसे बोले—देव, आप यह क्या अनर्थ कर रहे हैं। आप अपनी इस देह से समस्त पृथ्वी की रक्षा करते हैं। एक पक्षी के लिए आप अपनी देह कैसे दे सकते हैं? फिर यह पक्षी छद्मवेषी कोई देव या दानव लगता है कारण सामान्य कबूतर का इतना वजन कैसे हो सकता है?

जब वे ऐसा कह रहे थे तभी किरीट, कुण्डल और माला धारण किए

मानो समृद्धि ही मूर्तिमन्त हो गयी हो ऐसा देव उपस्थित हुआ। उसने राजा को सम्बोधन कर कहा—महाराज, आप मनुष्यों में अनन्य हैं। ग्रह जैसे स्व-स्थान से च्युत नहीं होते उसी प्रकार आप भी मानवता से च्युत नहीं हो सकते। देव सभा में इन्द्र ने जब आपकी प्रशंसा की तो वह मुझे अविश्वसनीय लगी अतः मैं आपकी परीक्षा लेने आया। पूर्व जन्म के विरोध के कारण इन दोनों पक्षियों को लड़ाई के लिए उद्यत देखकर मैं ही इन्हें प्रेरित कर यहाँ ले आया था। मुझे क्षमा करें।

ऐसा कहकर राजा को स्वस्थ कर वह देव स्वर्ग को चला गया। सामन्त, नृप और अन्य उपस्थित व्यक्ति आश्चर्यान्वित होकर राजा से पूछे—देव, यह कबूतर और बाज पूर्व जन्म में कौन थे? इनके विरोध का क्या कारण था? और वह देव भी पूर्व जन्म में कौन था?

मेघरथ ने कहा—इस जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र में श्री के कमलदल-सा पद्मिनीखण्ड नामक एक नगर था। सागरदत्त नामक समुद्र-सा महाधनशाली एक वणिक वहाँ रहता था। उसकी एक मात्र पत्नी का नाम था विजयसेना। उनके दो पुत्र थे धन और नन्दन। क्रमशः बड़े होते हुए उन्होंने यौवन प्राप्त किया। पिता के धन में गर्वित बने वे अहंकारी होकर नानाविध क्रीड़ाओं में समय व्यतीत करने लगे।

एकदिन वे सागरदत्त को प्रणाम कर बोले—पिताजी, आदेश दीजिए, हम वाणिज्य के लिए विदेशों में जाएँ। यह सुनकर आनन्दित हुए सागरदत्तने उन्हें विदेश जाने की अनुमति दे दी। पुत्र जब बड़ा होकर पिता की सहायता करता है तो उससे अधिक आनन्द पिता के लिए अन्य नहीं हो सकता। वे बहुत-सा पण्य द्रव्य लेकर सार्थवाह सहित क्रमशः नागपुर नामक एक वृहद् नगर में पहुँचे। वहाँ व्यवसाय करते हुए उन्हें कुत्ते के एक मांस खण्ड की तरह एक महार्घ रत्न प्राप्त हुआ। उसी रत्न के लिए क्रुद्ध होकर वे वन्य वृषभ की तरह परस्पर शंख नदी के किनारे मार-पीट करने लगे। इसी मार-पीट में वे दोनों जल में गिर गए और उसी क्षण मृत्यु को प्राप्त हो गए। लोभ से किसकी मृत्यु नहीं होती! मृत्यु के पश्चात् वे दोनों भाई इन्हीं पक्षी रूप में उत्पन्न हुए। पूर्व जन्म के बैर के कारण वे इस जन्म में भी परस्पर शत्रु बन गए।

इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह के अलंकार-स्वरूप रमणीय नामक विजय में सीता नदी के दक्षिण तट पर शुभा नामक एक नगरी थी। उसी नगरी में आज के पंचम भव पूर्व मैं राजा सुमितसागर का अपराजित नामक पुत्र था।

मैं बलदेव था और मेरा अनुज अनन्तवीर्य वासुदेव था। वही वासुदेव दृढ़रथ है। उस समय दीर्घबाहु दमितारि प्रतिवासुदेव थे। उनकी कन्या कनक श्री के लिए हमने उसे युद्ध में मारा था। उसी नेभव भ्रमण करते हुए इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में अष्टापद पर्वत की तलहटी में निवृति नदी के तीर पर सोमप्रभ नामक तापस के पुत्र रूप में जन्म लिया। बालतप करते हुए मृत्यु के पश्चात् वही सुरुप नामक देव हुआ। ईशानेन्द्र द्वारा की गयी मेरी प्रशंसा को सहन न कर सकने के कारण वह मेरी परीक्षा लेने आया।

कबूतर और बाज मेघरथ द्वारा कही अपने पूर्व भव की कथा सुनकर उसी क्षण जातिस्मरण ज्ञान को प्राप्त किया और मूर्च्छित होकर गिर पड़े। राजा के अनुचरों ने जब उन्हें हवा दी, जल छिड़का तो वे मानो नींद से जागे हों इस प्रकार मूर्च्छा भंग होने से जाग उठे। उन्होंने स्वभाषा में राजा से कहा—प्रभु, आपने हमारे पूर्व जन्म का दुष्कृत्य स्मरण कराया। जिसके फलस्वरूप हमें यह तिर्यंच योनि प्राप्त हुई अत्यधिक लोभ के वशवर्ती होकर आपस में मार-पीट कर हमने एक मनुष्य जन्म ही नष्ट नहीं किया इस जन्म में भी नरक में जाने योग्य उपक्रम कर रहे थे। अन्धकूप में गिरते हुए को हाथ से बचा लेने की तरह आपने हमें बचा लिया। अब से हे स्वामिन्, आप हमें कुमार्ग से सुमार्ग पर ले जाकर हमारी रक्षा करें ताकि हमारा उत्थान हो।

मेघरथ जो कि अवधिज्ञान के समुद्ररूप थे उन्हें भव्य जीव समझकर यथा समय अनशन ग्रहण करने को कहा। उहोंने अनशन धारण कर धर्म भावना में मृत्यु प्राप्त की और भवनवासी देवों के इन्द्ररूप में जन्म ग्रहण किया।

राजा मेघरथ पौषध शेष कर मानो मूर्त्तिमन्त धर्म ही हों इस प्रकार राज्य करने लगे। एकदिन बाज और कबूतर की कथा स्मरण हो आने पर महा-शान्ति की बीज रूप संसार-विरक्ति प्राप्त की। उन्होंने तीन दिन तक उपवास का परिषह सहन करने के लिए प्रतिमा धारण की और शरीर को पर्वत की तरह स्थिर कर लिया। उसी समय ईशानेन्द्र जो कि अन्तःपुरिकाओं के साथ स्व-विमान में अवस्थित थे सहसा आपको नमस्कार करता हूँ कहकर किसे तो नमस्कार किया। यह देखकर इन्द्राणियों ने पूछा—देव, अत्यन्त श्रद्धा से अभी आपने किसको नमस्कार किया? संसार में कौन है जो आपके लिए भी नमन करने योग्य हैं?

ईशानेन्द्र बोले—देवी, अर्हत् घनरथ के पुत्र मेघरथ सरोवर में जैसे श्वेत कमल सुशोभित होता है उसी प्रकार अभी पुण्डरिकिनी नगरी में उपवास और प्रतिमा धारण किए सुशोभित हो रहे हैं। वे भावी तीर्थंकर हैं और भरत

क्षेत्र के अलंकार रूप हैं। यहाँ से उन्हें देखकर मैंने उन्हें नमस्कार किया है। मनुष्य का तो कहना ही क्या, देव-दानव यहाँ तक कि इन्द्र भी उन्हें उनके ध्यान से विचलित करने में समर्थ नहीं है।

ईशानेन्द्र की दो इन्द्राणियाँ सुरुपा अतिरुपिका को इस कथन पर विश्वास नहीं हुआ। अतः वे मेघरथ का ध्यान भंग करने पृथ्वी पर उतरीं और मीन-केतु का प्रासाद-सा या आयुध रूपी सुन्दरी स्त्रियों की सृष्टि की। वे सृष्ट सुन्दरियाँ मदन को जीवित करने में औषधि रूप थी। उन्होंने हाव-भाव से, अनुकूल उपसर्ग से उनका ध्यान भंग करना चाहा। लहराती हुई वेणी बन्धन द्वारा उनमें से एक ने प्रेम के उद्‌गम स्थल रूप स्कन्ध देश को प्रदर्शित किया। दूसरी अर्द्धस्खलित वस्त्रों से अपने नितम्ब दिखाने लगी जैसे— दर्पण से आवरण हटाया गया हो। सखियों से बात करने के बहाने एक ने भ्रू देश को बार-बार कम्पित किया। मानो वह मदन का अस्त्र निक्षेप कर रही है। एक ने प्रणयाविष्ट मुख और नेत्रों की अभिव्यक्ति से गन्धार ग्राम में अश्लील गीत गाया। एक सुन्दरी स्व-अनुभूत काम क्रीड़ा की बात अन्य सखी को बार-बार कहने लगी। अन्य एकने कामार्त्त की भाँति विभिन्न मुद्राएँ प्रदर्शित कर उनमें काम-वासना जाग्रत करना चाहा। कोई उनसे बात करने को कहने लगी, किसी ने उनके हाथ का स्पर्श चाहा, किसी ने उनसे कटाक्ष की याचना की, किसी ने उनका आलिंगन करना चाहा। इस प्रकार प्रभात होने तक उन्होंने काम-कला का प्रदर्शन किया। हीरे पर जैसे कुल्हाड़ी का आघात व्यर्थ होता है उसी प्रकार राजा मेघरथ पर फेंके उनके समस्त काम-बाण व्यर्थ हो जाने से इन्द्राणियों ने अपने माया जाल को समेट लिया। अनुतप्त वे मेघरथ को प्रणाम कर स्व-निवास को लौट गयीं।

प्रशान्तमना मेघरथ ने प्रतिमा और उपवास भंग किया। रात्रि की घटना स्मरण कर वे मुक्ति लाभ के लिए व्यग्र हो उठे। प्रधान महिषी प्रियमित्रा ने स्वामी को मुक्ति के लिए व्याकुल देखकर स्वयं भी मुक्ति की आकांक्षा करने लगी। कारण सती स्त्री स्वामी के पथ का ही अनुसरण करती है। कालान्तर में अर्हत् घनरथ प्रव्रजन करते हुए वहाँ आए और ईशानकोण में अवस्थित हो गए। अनुचरों ने मेघरथ को उनके आगमन का संवाद दिया। उन्होंने संवादवाहक को पुरस्कृत किया और अनुज सहित अर्हत् घनरथ को वन्दना करने गए। अर्हत् भगवान ने भी एक योजन तक सुनी जा सके और जो सबके लिए बोधगम्य थी ऐसी भाषा में देशना दी। देशना समाप्त होने पर मेघरथ उन्हें प्रणाम कर बोले, भगवन्, आप सबकी

रक्षा करने वाले हैं अतः मेरी रक्षा करें। आप सर्वज्ञ हैं फिर भी हैं सबके कल्याणकारी। जगन्नाथ, मैं आपसे एक अनुरोध करता हूँ—हे प्रभु, अपना कल्याण कौन नहीं चाहता ? अतः जब तक मैं राज्य सिंहासन पर किसी को बैठाकर नहीं लौटूँ तब तक आप यहीं अवस्थित रहें। लौटकर मैं आपसे दीक्षा ग्रहण करूँगा।

शुभ कार्य में विलम्ब मत करो—अर्हत् घनरथ के ऐसा कहने पर मेघरथ घर गये और अपने अनुज से बोले—भाई, अब इस राज्य-भार को तुम ग्रहण करो ताकि मैं दीक्षा ग्रहण कर सकूँ। पथिक की भाँति संसार भ्रमण करते-करते अब मैं थक गया हूँ। तब दृढ़रथ करबद्ध होकर बोले—सत्य ही यह संसार दुःखमय है। जो विवेकशील होते हैं वे इसका परित्याग कर देते हैं। इस राज्य का भार मुझ पर डालकर, जबकि संसार समुद्र का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता, आप मेरा परित्याग क्यों कर रहे हैं ? आज तक आपने मुझे अपने मन के अनुकूल ही समझा तो अब उसका व्यतिक्रम क्यों कर रहे हैं। कृपया मुझ पर दया करें। आप अपनी तरह मेरी भी रक्षा करें। आज पिताजी से आपके साथ मैं भी दीक्षित होऊँगा। यह राज्य भार आप किसी अन्य को सौंपें।

तब मेघरथ ने स्वपुत्र मेघसेन को राज्य दिया और दृढ़रथ के पुत्र रथसेन को युवराज पद पर अभिषिक्त किया। मेघसेन द्वारा दीक्षा महोत्सव अनुष्ठित हुआ। तदुपरान्त दृढ़रथ एवं सात सौ पुत्रों और चार हजार राजाओं सहित मेघरथ अर्हत् घनरथ के निकट जाकर दीक्षित हो गए। जिसे सहन करना कठिन है—ऐसा परिषह सहन कर तीन गुप्तियों और पाँच समितियों का पालन कर शरीर के प्रति ममत्व त्यागी वे महात्मा दृढ़रथ सहित व्रत, तपाचरण और अंगादि शास्त्रों का अध्ययन कर पृथ्वी पर विचरण करने लगे।

अर्हत् के प्रति भक्ति भावापन्न होकर बीसस्थानक की उपासना कर जिसे अर्जन करना अत्यन्त कठिन है ऐसा तीर्थंकर गोत्र कर्म उपार्जन किया।

सिंह निक्रीड़ित नामक घोर तप कर एक लक्ष पूर्व तक उन्होंने मुनि धर्म का पालन किया। तत्पश्चात् अमरतिलक पर्वत पर आरोहण कर यथाविधि अनशन ग्रहण कर लिया।

मृत्यु के पश्चात् वे सर्वार्थ सिद्धि नामक विमान में उत्पन्न हुए। उनके पवित्रमना अनुज दृढ़रथ भी कुछ समय के पश्चात् अनशन ग्रहण कर मृत्यु के पश्चात् पूर्ववर्ती विमान में उत्पन्न हुए।

चतुर्थ सर्ग समाप्त

[क्रमशः

संकलन

॥ आत्म-शक्ति की उपासना का पर्व पर्यूषण ॥

आत्मा की शक्ति जिन कारणों से आवृत्त है, सुषुप्त है, उन्हें दूर करने का अभ्यास और उसकी तकनीक का प्रयोगकाल है पर्यूषण। इस काल में आत्मा की श्रद्धान रूप संवेदनशीलता को विकसित करने के लिए सम्यक दर्शन की, जीव-अजीव तत्व चिन्तन को समझकर बोधि ज्ञान प्राप्त करने रूप सम्यक् ज्ञान की, सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान का आचरण में प्रवृत्त करने रूप सम्यक् चारित्र की आराधना की जाती है। दान, शील, तप, भाव रूप साधना द्वारा क्रमशः ममत्व-विसर्जन, आत्म-स्वभाव-रमण, कष्ट-सहिष्णुता और आत्म-विशुद्धि का अभ्यास किया जाता है। इन सबके प्रभाव से बुद्धि विवेकवती और चित्तवृत्ति निर्मल बनती है, कषाय मन्द पड़ते हैं और क्षमा का भाव विकसित होता है। क्षमा जीवन का वसन्त है, जिसके आविर्भाव होते ही करुणा, विनय, सरलता, अपरिग्रह, संयम तप, त्याग, ब्रह्मचर्य आदि गुण प्रकट होने लगते हैं। इन गुणों के प्रकटीकरण से आत्म-शक्ति प्रकट होती है और उसका उपयोग आत्म-कल्याण के साथ लोक-कल्याण में होने लगता है।

यहाँ पर विचारणीय यह है कि क्या हम पर्यूषण पर्व में आत्म-शक्ति को जाग्रत करने की वास्तविक साधना कर पा रहे हैं? कुछ अपवादों को छोड़कर मोटे तौर से हमारी पर्यूषण साधना भी यांत्रिक बनकर रह गई है। सम्यक्-दर्शन, ज्ञान, चारित्र-रूप रत्नत्रय की आराधना धूमिल और मन्द पड़ती जा रही है। रत्न की तेजस्विता खो गयी है। ज्ञान प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव स्थापित करने की बजाय क्षुद्र अहम् में स्वयं कैद होने लगा है। दर्शन संवेदना जगाने की बजाय अन्ध श्रद्धा और मिथ्या मान्यताओं से मलिन हो चला है। चारित्र, मन, वचन, और कार्य की एकता स्थापित करने की बजाय कथनी और करनी के अन्तर को बढ़ाने में अपना पुरुषार्थ दिखाने लगा है। दान अपने प्राप्य में दूसरों को भागीदार बनाकर ममत्व विसर्जन का शोधन न रहकर अहम् पोषण का साधन बन गया है। शील स्वभाव न बनकर ऊपरी आवरण बनता जा रहा है। तप विकार विजय और आत्मशुद्धि में सहायक न बनकर लोकेषणा के लिए तपने लगा है। भाव आंतरिक वासना को हटाने में प्रभावी न बनकर अपनी प्रभावना खो बैठा है। परिणामस्वरूप क्षमा औपचारिक-वाचिक बनकर रह गई है। ऐसी स्थिति में आत्म-शक्ति जगे तो कैसे?

—डॉ० नरेन्द्र भानावत

जिनवाणी, अगस्त १९९०

जैन पत्र-पत्रिकाएँ—कहाँ/क्या

अहिंसा वयेस || अप्रैल-जुलाई १९९०

इस अंक में है 'Jain Concept of the Sacred' (Padmanabh S. Jaini), 'पणि और श्रमण संस्कृति' (डॉ० कृष्णदत्त वाजपेयी)।

प्राकृत विद्या || अप्रैल-जून १९९०

इस अंक में है 'आचार्य कुन्द-कुन्द का दार्शनिक अवदान' (डॉ० लालचंद जैन), 'आचार्य कुन्द-कुन्द साहित्य से जीवन दृष्टि का लाभ' (विद्याधर उमाठे), 'आचार्य श्री कुन्द-कुन्द के विवेचन से षटखंडागम का सम्बन्ध' (बालचन्द सिद्धान्तशास्त्री), 'नियम सार' (डॉ० ऋषभचंद्र फौजदार), 'प्राचीन प्राकृत में मध्यवर्ती नकार के सर्वत्र णकार की समीक्षा' (डॉ० के० आर० चन्द्र)।

शोधादर्श || मई १९९०

इस अंक में है 'वर्द्धमान महावीर' (डॉ० शशिकान्त), 'कुलचन्द्र नाम के आचार्य' (डॉ० ज्योति प्रसाद जैन), 'काम्पिल्य' (अभय प्रकाश जैन), 'शब्द और भाषा' (विभा जैन), 'अग्रवाल जाति और जैन धर्म' (अजित प्रसाद जैन), 'जैन दर्शन की कर्म सम्बन्धी अवधारणा' (डॉ० रजन कुमार)।

श्रमण || अप्रैल-जून १९९०

इस अंक में है 'जैन धर्म में तीर्थ की अवधारणा' (डॉ० सागरमल जैन), 'जैन संस्कृति व श्रमण परम्परा' (डॉ० शान्ताराम भालचन्द्र देव), 'शरीर संरचना के आधार पर मानव व्यक्तित्व का वर्गीकरण' (त्रिवेणी प्रसाद सिंह), 'सूत्रकृतांग में वर्णित दार्शनिक विचार' (डॉ० श्री प्रकाश पाण्डेय), 'पार्श्वनाथ जन्मभूमि मन्दिर, वाराणसी का पुरातत्वीय वैभव' (डॉ० सागरमल जैन), 'प्रबंध कोश का ऐतिहासिक विवेचन' (प्रवेश भारद्वाज)।

तीर्थंकर || अगस्त १९९०

सम्पादकीय के अतिरिक्त इस अंक में है 'कृतज्ञता : बूँद को बनाए सागर' (कन्हैयालाल सरावगी), 'व्रत और धर्मगुरु' (सुरेन्द्र बोथरा), 'घुटन का आत्म-समर्पण' (मुनि चन्द्रप्रभ सागर), 'वे धन्य हैं ; उनसे ही है यह संसार हरा-भरा' (सुरेश सरल), 'क्या आलू सचमुच कन्द है ?' (उपाध्याय श्री अमर मुनि), 'कान जी स्वामी के आश्रम में दो दिन' (पुखराज भंडारी), 'खत : जो मिला अभी-अभी' (गणेश ललवानी)।

LODHA MOTORS

A House of Telco Genuine Spare Parts and
Govt. Order Suppliers.
Also Authorised Dealers of Pace-setter and
Nicco Batteries in Nagaland State.

CIRCULAR ROAD, DIMAPUR
NAGALAND

Phone : 3039, 3174

The Bikaner Woollen Mills

Manufacturer and Exporter of Superior Quality
Woollen Yarn, Carpet Yarn and Superior
Quality Handknotted Carpets

Office and Sales Office :
BIKANER WOOLLEN MILLS

Post Box No. 24
Bikaner, Rajasthan
Phones : Off. 3204
Res. 3356

Main Office :
4 Meer Bohar Ghat Street
Calcutta-700007
Phone : 38-5960

Branch Office :
Srinath Katra : Bhadhoi
Phone : 5378
5578, 5778

WB/NC-253
Vol. XIV No. 5 **TITTHAYARA** **September 1990**
Registered with the Registrar of Newspape s for India
under No. R. N. 24582/73